स्वानुभव तरंगिणी

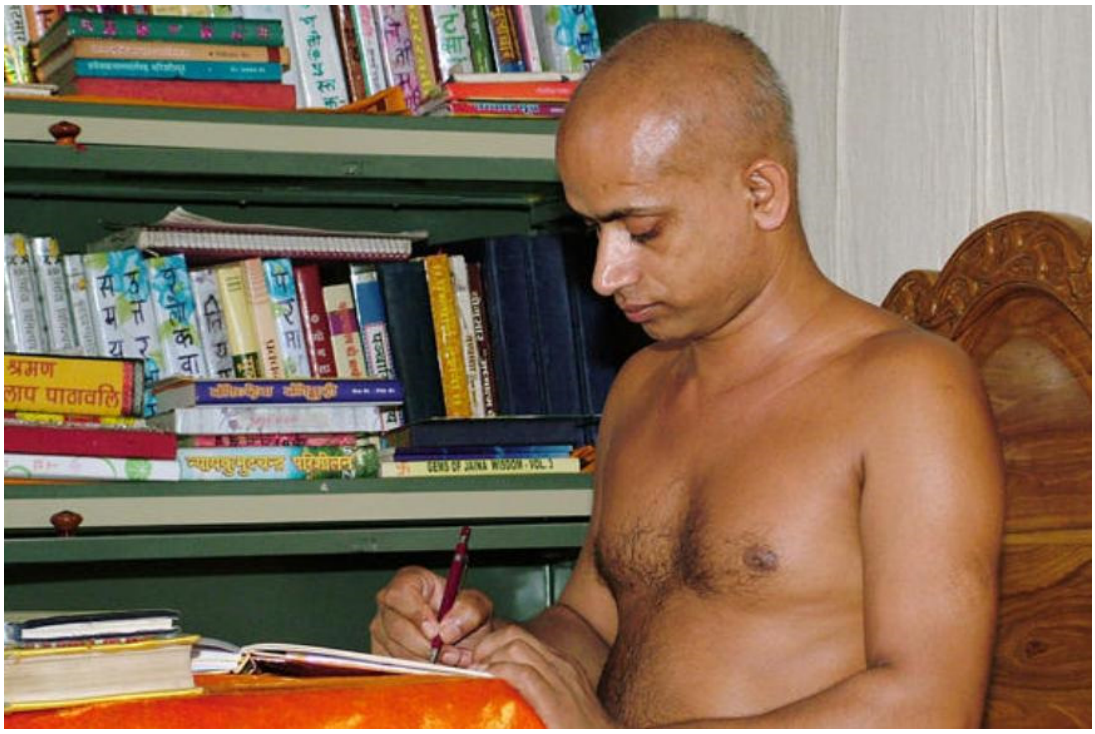

आचार्य श्री १०८ विशुद्धसागर जी महाराज

Visit us at http://www.vishuddhasagar.com
Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

अनुक्रमणिका

क्रमांक	विवरण	पृष्ठ
1.	रागी द्वेषी नहीं, ज्ञाता दृष्टा बनो	3
2.	अपने पुण्य - पाप का कर्ता कोई अन्य नहीं	4
3.	आत्म ताव ही उपादेय	5
4.	जैन आचार्य भगवंतों का योगदान	6
5.	विधि बलवान	7
6.	द्रव्य तो अविनाशी है, पर्याय ही विनाशी है	8
7.	साधना याने विषमता में समता रखना	9
8.	कषाय असीम है	10
9.	सुरभि ही सुमन की पहचान है	11
10.	निज परमेश्वर को निज में खोज	12
11.	जैन दर्शन संयमाचरण से जगतवन्द्य है, आडम्बरों से नहीं	13
12.	मनुष्य पर्याय दुर्लभता से प्राप्त हुई है	14
13.	अरहंत मुद्रा को मत लजाओ	15
14.	मोहनीय कर्म सभी कर्मों का राजा है	16
15.	कौन किसको सुधार सका है आज तक	17
16.	परनिंदा से नीच गोत्र का बंध होता है	18
17.	नर पयार्य भोगों के कारण नहीं, संयम के कारण श्रेष्ठ	19
18.	आदर्शता जीवन श्रृंगार	20
19.	आत्मभोग का क्षण है नया वष	21
20.	स्वचिद्स्वरूप को नहीं भूलना	22
21.	सज़्यक्त्वी करता है ज्ञान-चारित्र का सज़्मान	23
22.	परदोष वादे मौनम्	24
23.	समयसार की प्राप्ति का उपाय: तत्वदृष्टि	25
24.	जिन-दर्शन से कर निज-दर्शन	26
25.	तीर्थ वंदना होती है निजतीर्थ की प्राप्ति के लिए	27

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

रागी द्वेषी नहीं, ज्ञाता दृष्टा बनो

हे प्रज्ञात्मन्! तू ज्ञायक - स्वभावी है। पर में राग करना तेरा स्वभाव नहीं है। धन, कंचन, काँच, कामिनी, प्रशंसा, निन्दा, इन सबको देखो-सुनो ज्ञाता - हृष्टा बनकर हर्ष - विषाद नहीं आना चाहिए। यह साधना भी सच्चे साधक को प्रारंभ कर देना चाहिए। सब कुछ तेरे सामने हो रहा है, दिख रहा है कि कषायों को प्रकट कराने के कारण विद्यमान हैं, फिर भी कषाय-भावों को प्रकट नहीं होने दे रहे। मन पर विषयों में जा रहा है, आप मन को भी देख रहे हैं कि देखो ये कहाँ-कहाँ जा रहा है, कितना स्वच्छन्दी बन रहा है। चिन्तवन करो मन एक क्षण में विश्व के समस्त पदार्थों का उपभोग करना चाहता है। जाने दो। करता क्या है - ये देखो। जब ये अनुभव होने लगे कि मन अति कर रहा है, तब दृढ़ संकल्प की रस्सियों से बाँधकर इसे अपनी ओर खींच लेना, विषयों के निकट नहीं ले जाना। मन कभी प्रसन्नता में फूलता है, तो कभी निन्दा में कूलता है। क्या यही विवेक - ज्ञान है? प्रशंसा में मत फूलों प्रशंसनीय निज कार्यों में फूलों। निन्दा में मत कूलो, निन्दनीय कार्यों में कूलो। अपनी प्रशंसा प्रत्येक व्यक्ति सुनना चाहिता है, परन्तु निन्दा नहीं। सत्यालोचना सुनने में भी पसीना आता है, व्यक्ति की सज़्पूर्ण खुशियों की कलियाँ मुरझा जाती है। मुख - मण्डल मलिन हो जाते हैं। देह का तेज क्षण-मात्र में नष्ट हो जाता है। अहो! निन्दा में कितनी शक्ति है। बिना देह को कष्ट दिए व्यक्ति कष्ट के सागर में निमग्न हो जाता है। यश का जीवन कितना अर्थयुक्त होता है? भो प्रज्ञ! तू निज निन्दा करते रहना, साथ ही निन्दनीय कृत्यों से पृथक रहना, जिससे सद्गुणों की भक्षक लोक-निन्दा न हो!

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु - ये पंच परमेष्ठी भगवान-आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं।

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

अपने पुण्य - पाप का कर्ता कोई अन्य नहीं

विशुद्धात्मन्! प्रत्येक जीव के साथ पुण्य-पाप का विपाक लगा रहता है। पुण्योदय में सुख-साधन सुलभ रहते हैं, पापोदय में अति दुर्लभ हो जाते हैं। साथ ही, प्राप्त सामग्री भी कष्ट-दायक हो जाती है। धन, स्त्री, पुत्रादि भी प्राण घातक हो जाते हैं। पुण्य-पाप का कर्ता कोई अन्य नहीं है। स्वयं के पुण्य-पाप के कर्ता हम स्वयं ही हैं। वही पुण्य श्रेष्ठ समझना जिसके उदय के साथ भी पुण्य-कार्य ही चलता हो, अरहंतादि परमेष्ठी की आराधना जिसमें चलती है, परन्तु वह पुण्य श्रेष्ठ नहीं, जिसके उदय आने पर जीव धर्म व धर्मात्मा को भूल जाए।

ऐसा पुण्य तो संसार का ही कारण बनता है। कारण, पुण्योदय से सम्मान, श्रेष्ठ भोग-सामग्री की प्राप्ति हुई उससे इन्द्रिय-सुख का वेदन किया, जिससे पुनः नवीन कर्मो का आस्त्रव हुआ, जिससे संसार की ही वृद्धि हुई। ऐसे पुण्योदय से तो वह पापोदय श्रेष्ठ है, जिसके सद्भाव में जीव पञ्चपरमेष्ठी की आराधना करता है, संयमाचरण का पालन करता है, जिससे अशुभ कर्मोदय का विपाक शिथिल होकर नष्ट हो जाता है, श्रेष्ठ साधना करके मुक्ति को प्राप्त करता है। उभय कर्मो के अनुभाग को समझकर निज परिणामों को संभालकर चलना। किसी भी जीव को वर्तमान में यह ज्ञान नहीं है कि कितना पुण्य का द्रव्य मेरे पास है। यदि निज परिणामों को नहीं संभाल सका और पुण्य-द्रव्य समाप्त हुआ तो, एक साथ अशुभ का उदय आएगा, फिर चिन्तवन भी नहीं बनेगा कि क्या करूँ। अपने भी सपने से प्रतीक होने लगेंगे। जो पूजा आरती उतारते थे, वे पास नहीं आएंगे। अतः भो प्रज्ञ! निज प्रज्ञाबल से स्व परिणामों को संभाल।

पूज्य बनने की भावना भीतर से जगने के बाद/रखने वाला ही सच्ची पूजा कर सकता है।

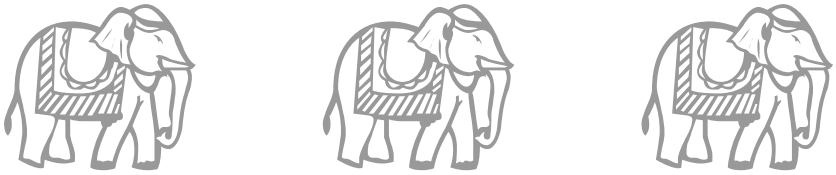

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

आत्म ताव ही उपादेय

प्रज्ञात्मन्! आत्मताव ही सज़्पूर्ण तावों में उपादेयभूत है। उसकी प्राप्ति का सज़्यक पूरुषार्थ कर। संसार के जितने भी बाह्य ताव हैं, उन्हें तूने अनेक बार जाना है, देखा है, उनको अनुभवन भी किया है, परन्तु परमताव शुद्धात्मा का न अनुभवन किया है, न देखा, न सुना। अहो! कैसा है वह आत्मताव? जिसमें राग नहीं, द्वेष नहीं, मोह नहीं, वर्णादि से रहित, शुद्ध, चिद्रूप, परम-पारिणामिक, ज्ञायक-स्वाभावी है, पर सज़्बन्धों से पृथक है। संसार का कोई भी पदार्थ जिसे स्पर्शित नहीं किए हैं, परन्तु वह भी किसी स्पर्शित नहीं करता, निज - स्वभाव में ही लीन रहता है। उसने न कभी पर को अपने रूप किया है, न स्वयं कभी पर रूप हुआ। आज तक चैतन्य ने लोक के किसी भी द्रव्य को निजरूप नहीं किया। स्वचतुष्टय में ही परिणमन किया है। अनादि से कर्म का सज़्बंध भी रहा अशुद्ध अवस्था में, फिर भी लेश-मात्र यह आत्मा कर्म-रूप नहीं हुई। अहो! आश्चर्य है। नीर - क्षीर वत् सज़्बन्ध जिसका रहा, वह भी तत् रूप नहीं परिणमा सका, एक रूप नहीं हुआ, भिन्न रूप ही रहा, फिर भी अज्ञानी जीव देहादि को अपना कहता है। देह को ही नहीं मूढ भोले जीव तो जिनका अत्यन्ताभाव है, उन्हें भी निज - रूप मानता है। उन भिन्न पदार्थों के संयोग - वियोग पर सुरखी - दुःखी हो जाता है। तीव्र नवीन कर्म - बन्ध को प्राप्त कर लेता है और भव - सागर में भटकता रहता है। भो आत्मन्! यह अज्ञान दशा तेरी ठीक नहीं है। अब तो प्रज्ञा - चक्षु को खोल, निज अबन्धक दशा का चिन्तवन कर।

श्रद्धा की अभिव्यक्ति आचरण के माध्यम से होती है।

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

जैन आचार्य भगवंतों का योगदान

हे प्रज्ञात्मन्! हमारे आचार्य भगवन्तों ने हमारे ऊपर कितना उपकार किया है। श्रमण संस्कृति के विकास में अपना अमूल्य समय लगाकर प्रत्येक विद्या पर लेखनी चलाई है। अहो! उनकी विशाल प्रतिभा, बहुमुखी विचार - शक्ति अनुपम ही है। कितना ध्यान रखा है धर्म-प्रभावना का। निज की व्यक्तिगत प्रभावना को छोड़कर श्रमण-संस्कृति के प्रभुत्व को बढ़ाया है।

आचार्य पुष्पदन्त, भूतवली स्वामी, भगवान् कुन्द-कुन्द, आचार्य समन्तभद्र, अकलंकदेव, वीरसेन स्वामी का तो कहना ही क्या। सर्वज्ञ पर पूर्व आस्था को दृढ़ करने वाला उनका सद् साहित्य धवला जी जैसी महाटीका उनके अंत:करण ही विशुद्धता और तलस्पर्शी सिद्धान्त के ज्ञातत्व को प्रकट करता है। आचार्य वीरसेन स्वामी का स्तवन करते हुये अन्य आचार्य भगवन्तों ने उन्हें कलिकाल - सर्वज्ञ की निर्मल उपाधि से सज़्बोधित किया है। जिनसेन स्वामी ने प्रथमानुयोग पर 'महापुराण' जैसे महान् आर्ष ग्रन्थ लिखे और जैसे दर्शन को गरिमामय बनाया। उमास्वामी महाराज की हस्त सिद्ध लेखनीका क्या कहना। 'तावार्थ सूत्र' ग्रन्थ के सृजन ने जैन - साहित्य को विश्व-साहित्य कोष से जोड़ दिया। चारों अनुयोगों का एक ग्रन्थ जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा का प्रथम सूत्र-ग्रन्थ है। उसी प्रकार दर्शन न्याय के प्रथम ग्रन्थ 'परीक्षा मुख' सूत्र के कर्ता आचार्य माणिक्यनंदी महाराज हुये। इस प्रकार अनेक पूर्वाचार्यो ने हम सभी को ही नहीं अपितु विश्वसाहित्य मनीषा को नई दिशा प्रदान की है। कैसे थे ये आचार्य भगवन्त, उस विषय को समझना है तो सर्व प्रथम उनके द्वारा लिखित वीतरागवाणी का मनोयोग से निर्मल विशुद्ध भावों से अध्ययन, चिन्तवन मनन करें। अरहन्त देव की वाणी का पान कर, निज भावों को पापन कर अपनी आत्म का सर्वमुखी विकास करें।

यमराज (मृत्यु) के आने का कोई समय नियत नहीं।
असंयमी रहने पर मौत हो तो दुर्गति का पात्र होता है।
अत: ज्ञान होने पर भी यदि असंयमी है तो दुर्गति का पात्र है।
इसलिये सबसे पहले संयमी बनो, फिर ज्ञान प्राप्त करो।

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

विधि बलवान

हे प्रज्ञात्मन्! विधि का विधान विचित्र है। जीव अपना पुरूषार्थ करता है। पुरूषार्थ करना तो पुरूष का कर्त्तव्य है तथा पुरूषार्थ तक ही पुरूष का बल है, परन्तु कार्य-सिद्धि तो दैव / विधि के बल पर है। बिना पुरूषार्थ के विधि भी कार्यकारी नहीं हो सकती, लेकिन पुरूषार्थी को यह दंभ भी करने की आवश्यकता नहीं है कि मैं ही सबका कर्ता हूँ, जो कुछ हो रहा है वह मेरे द्वारा ही हो रहा है। यह सोच पूर्ण-अज्ञान से भरा है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र है। परद्रव्य परिणमाने में उसका निमित्त-कर्ता तो हो सकता है, परन्तु उपादान-कर्ता स्वद्रव्य ही है। निश्चय नय से न तू पर का कर्ता है, न पर तेरा। अहो! शास्त्रों में पढ़ा है क्या विधि का विधान? प्रात: राम के लिए राज्य-तिलक की तैयारियाँ चल रही थीं, ध्वनि, वृन्दावलियाँ सुनाई जा रही थीं। जिनालयों में जिनदेव का मंगलाभिषेक, भक्ति, पूजन चल रहा था। सारी अयोध्या नगरी नव-वधु के तुल्य सजाई गई थी। बन्दन-बार लगे हुए थे। चारों ओर राम के राज्याभिषेक की चर्चाएँ चल रही थीं, परन्तु विधि को यह पसंद नहीं था। मध्याह्न में वनवास की घोषणा हो गई। अशोका गार्डन भोपाल की समाज जिनालय में उत्साह मना रही है। महीनों से बाल-गोपाल में चर्चाएँ हैं कि शीतकालीन वाचना होगी। समाचार, आमंत्रण-पत्र विद्वानों और श्रेष्ठिवर्ग को पहुँच गये। आचार्य महाराज का आशीर्वाद भी प्राप्त था, पर दैव की दशा को कालब्धि को कौन टाल सका? ब्र. भैया गोकुल जी पत्र लेकर आ गये। आचार्य महाराज के आदेश हुए कि श्रेयांसगिरि ससंघ पहुँचना है। बार-बार समाचार भेजने पर भी, जबकि बीना की सूचना पूर्व में थी। इससे घटित होता है कि दैव और पुरूषार्थ की समीचीनता से ही कार्य - सिद्धि होती है, उसमें कोई संशय नहीं।

जैन दर्शन में परमात्मा की नहीं, आत्मा की आराधना है। शुद्धिकरण का नाम ही जैनत्व है।

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

द्रव्य तो अविनाशी है, पर्याय ही विनाशी है

हे प्रज्ञात्मन्! लोक में जितने भी द्रव्य हैं, वे सभी ध्रुव हैं। कोई भी द्रव्य कभी भी विनाश को प्राप्त नहीं होता। विनाश पर्याय का होता है। पर्याय के परिणमन को ही लोक में पदार्थ का अभाव या विनाश कहते हैं, परनतु सिद्धान्त है कि द्रव्य - दृष्टि से कभी भी द्रव्य का विनाश नहीं होता। फिर ज़ी अज्ञानी प्राणी दु:खी होते हैं कि हमारा अमुक द्रव्य समाप्त हो गया मेरा सगा नष्ट हो गया। मोहवशात् जिन - सिद्धान्त को न समझने के कारण यह जीव व्यर्थ का विलाप करता है। ध्रुव पर दृष्टि रखे, तो कभी भी व्यर्थ में शोक नहीं करना पड़े तथा असाता - वेदनीय कर्म के अस्त्रव व बन्ध से अपनी रक्षा कर सकेगा। यथार्थता यह है कि अनित्यता को देखकर, पर्याप्त - दृष्टि बनाकर जीव अपनों मूढ़ता को ही प्रकट करता है। जीव जब तक द्रव्य-दृष्टि नहीं बनाएगा तब तक उसकी आँखों के आँसू मिटने वाले नहीं हैं। कारण, पर्यायें तो अनियत्य हैं। वे तो उपजेंगी और विनाश को प्राप्त होंगी। प्रतिपल उनमें राग स्थापित कर बैठा यह भोला जीव। उसका ही प्रभाव है कि आज तक सुख-शान्ति की श्वाँसें नहीं ले पाया, दु:ख ही दु:ख का वेदन करता रहा। अन्य द्रव्यों के कारण नहीं, क्योंकि वे सब तो अपने निश्चित समय पर ही अपने - अपने स्वभाव परिणत हो रही है। उन्हें पर से कोई प्रयोजन नहीं। परनतु अज्ञ प्राणी उनमें अपनी राग - परिणति के कारण दु:खी हो रहा है। मोह, राग का विसर्जन कर दे। न कहीं 'पर' में सुख स्वीकारेगा, न दु:ख। अखण्ड ध्रुव निजात्म द्रव्य पर लक्ष्यपात करें, तो न कोई मृत्यु को प्राप्त होता है, न जन्म लेता है। द्रव्य व गुणों से आत्मा तो अजर-अमर है। पर्याय के वियोग को व्यवहार से मृत्यु कहते हैं और नवीन पर्याय की प्राप्ति को जन्म। ठीक है, व्यवहार से स्वीकारने में कोई बाधा नहीं है, लेकिन उसे स्वभाव नहीं मान बैठना। स्वभाव तो नित्यानन्द चैतन्य, परमानन्द, परम-परिणामिक है, त्रैकालिक है, अखण्ड है, अविनश्वर है। हे आत्मन्! तू उसी स्वभाव - दशा को देख, तब ही परम सुखी रहेगा।

पर्याय दृष्टि से जीव का जन्म या मरण होता है। द्रव्य दृष्टि से जीव का न जन्म होता है न मरण।

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

साधना याने विषमता में समता रखना

है प्रज्ञात्मन! जीवन में अनेक विषमताएँ आती हैं। यह कोई विशेष बात नहीं है, न कोई आश्चर्य। इन्हें सहज भाव से स्वीकार करें। आनन्द के साथ निकाल दो। बड़े-बड़े महापुरूषों के जीव भोगों की रात्रियों में महान् नहीं बने। भोगों का स्वेच्छा से छोड़कर, योग को धारण कर, विषमताओं को प्रशस्त से सहन कर, कर्मोदय समझकर, एक शब्द परमागम का याद रखकर प्रतिपल प्रतिक्षण चरण किया है। जो भी सुख-दुःख दिन-रात आए उन्हें प्रकृति से अपनी प्रकृति मिलाकर जिए। अहो! मेरे सुख-दुःख में किसी का क्या दोष, क्या उपकर? यह कर्म - वैचिन्य है, विधि का विधान है। उसे न किसी न टाला है, न टाल पायेगा। जो पूर्व में किए कर्म हैं उनके विपाक का वेदन स्वयं को ही करना पड़ेगा। तीर्थेश पद को प्राप्त आत्मा को दैव न नहीं छोड़ा, तो मेरी क्या विसात। निर्धात्त व निकाचित - रूप जटिल कर्म तो भोगना नही पड़ेगा, शान्ति से भोगों, चाहे हाय-हाय कर, परन्तु समता से सहन करेंगे तो कर्म की हानि होगी। संक्लेषता से सहन करेंगे, तो कष्ट और भी बढ़ेगा तथा नवीन असाता - वेदनीय आदि कर्मो का आसूव-बन्ध भी होगा। प्रत्येक कर्म की अपनी-अपनी स्वतंत्र प्रकृति है। जिस कर्म का जैसा नाम है, वैसा काम भी है। कर्म निज स्वभाव के अनुसार ही जीव को फल प्रदान करता है। हे प्रज्ञ! तू किसी के शुभाशुभ कार्य को देखकर सुख-दुःख का अनुभव मत कर। किसी व्यक्ति ने तेरे ऊपर उपसर्ग भी क्यों न किया हो अथवा किसी श्रेष्ठ कार्य को देखकर सुरख-दुःख का अनुभव मत कर। किसी व्यक्ति ने तेरे ऊपर उपसर्ग भी क्यों न किया हो अथवा किसी श्रेष्ठ कार्य को विपरीत रूप स्वीकार लिया हो, उस समय यही विचारना कि उस बेचारे का क्या दोष? यह कर्म का सताया है, पापोदय चल रहा है, इसलिए इस प्रकार का कृत्य कर रहा है। पुण्योदय से श्रेष्ठ कार्यों में बुद्धि चलती है, अच्छा चिन्तवन बनता है। जो कुछ करता है वह सब अच्छा ही अच्छा होता है। मुझसे रुष्ट नहीं, इस पर कर्म ही रुष्ट है। मैं व्यर्थ में रोष करके कर्म-बन्ध नहीं करना चाहता हूँ।

सब शास्त्रों का सार है - समता बिन सब धूल। आचार्य - विद्यासागर

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

कषाय असीम है

है प्रज्ञात्मन्! इस जीव ने अनन्त भव धारण किए हैं, जिनमें राग, द्वेष, बन्ध की कथाओं के अलावा और कुछ नहीं किया। भव से भव की ही वृद्धि की है, भव-हानि का पुरूषार्थ तो किया ही नहीं है। यदि पुण्य योग से कभी धर्म, धर्मात्मा सद्गुरु का संयोग भी मिला, परन्तु तूने भोगों की ज्वाला में पड़कर प्रबल पुण्य-निमित्तों को भी नहीं स्वीकारा। पर्यायजन्य सुखों में लीन रहा, पर्यायी पर दृष्टि ही नहीं गई। भोगों से शान्ति मिली, तो कषायों की आयु-सीमा भी नहीं है। बाल से वृद्ध तक कषाय में जल रहे हैं। मान का तो कहना ही क्या? सिद्धान्त / नियम है कि मनुष्य-पर्याय में जन्म से ही मान की तीव्रता रहती है। विवेकशील प्राणी होकर भी यह मनुष्य अहं के पीछे अपने सिद्धत्व-स्वरूप को भूला है। पंच परमगुरु का भी अविनय कर बैठता है! देख भोले प्राणी! जो अहं है, वह कषायभाव है। कषाय कभी भी हितरूप नहीं होती है। मानसम्मान प्राप्त कराती है पर्याय, जो कि कुछ समय बाद नष्ट हो जाती है। इसमें कोई भी सार नहीं है। मृत्यु के उपरान्त यदि जमीन में गाड़ दिया, तो सड़ जाएगा। जला दिया, तो राख हो जाएगा। उसके अलावा कोई दूसरा कार्य नहीं है। हाँ, यदि संयम का पालन कर लिया, तो यह नि:सार तन भी घुने गन्ने के समान सार रूप हो जाएगा। जैसे घुना ईख निस्सार होता है, किसी के सेवन योग्य नहीं होता, परन्तु उसे उर्वरा भूमि में लगा दिया जाये तो श्रेष्ठ नवीन सामवती ईख को उत्पन्न कर देता है। उसी प्रकार यह तन है। संयम में लगा दिया, तो श्रेष्ठ मोक्ष फल को प्रदान करा देगा। इसलिए सर्वथा निस्सार ही नहीं है यह तन। यदि उपयोग करने की शैली निर्मल है तो, ध्यान रख! वर्तमान देह में तुझे 31 निकल गए , अब शेष समय को सहज स्वरूप में लगा देना।

दिनभर में आर्त - रौद्र ध्यान से अपने आपको कितना बचाया - यही जीवन की सफलता है।

Visit us at http://www.vishuddhasagar.com
Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

सुरभि ही सुमन की पहचान है

हे प्रज्ञात्मन्! उद्यान में खिले सुमन अपनी सुरभि से दिगन्त को सुरक्षित कर देते हैं। अहां पुष्पों की महक! वे जन-जन के हृदयकमल को खिला देते हैं। पथ में चलते पथिक को भी क्षण भर के लिए स्तंभित कर देते हैं। चाहे कोई कुसुम को स्वीकारे या न स्वीकारे, परन्तु वह अपनी पहचान को करा ही देता है तथा कोई पुष्प बने, न बने, पर पुष्पित - भाव तो हो ही जाते हैं। यह आत्मा एक उद्यान है, जिसमें धर्म के सुमन खिले हैं। यथार्थतः धर्मात्मा तो वहीं है जिसे देखकर अधर्मी भी धर्म की ओर आकर्षित होते हैं। वे धर्म को स्वीकार कर सकें या न कर सकें, परन्तु सत्यधर्म पर उनका विश्वास तो हो जाए। शान्ति का मार्ग एकमात्र वीतराग जिनदेव द्वारा उपदेशित धर्म है। उसके बिना न कोई सुख को प्राप्त हुआ, न होगा। धर्मात्मा के माध्यम से जगत में जिनशासन की प्रभावना होती है, प्राणी-मात्र के अन्दर दिव्य - ज्ञान का उद्योत होता है, मिथ्या-तिमिर का विनाश होता है तथा ज्ञान दर्शन चारित्र धर्मज्ञता तो वही है जिसे देखने पर से साधु बनने के भाव उत्पन्न होने लगें। जिस साधु को देखकर एक भव्य के भाव साधु न बनने के हुए व साधुता के प्रति विश्वास उत्पन्न नहीं करा सके, तो वह अभी साधुता से अधूरा है। उन्हें अपनी साधुता की प्राप्ति में पुरूषार्थ करने की आवश्यकता है। साधु - पुरूष मधुर, मृदु, वात्सल्य - स्वाभावी हुआ करते हैं। कठोरता का व्यवहार उनके चारित्र - पालन और कर्मो के गालन में ही होता है, प्राणी-मात्र के प्रति नहीं। मुक्तिवधु की प्राप्ति में जिनकी आशा लगी होती है, विषयाशा से परे होते हैं। हमें तीर्थकर भगवान् के दर्शन तो नहीं हुए, परन्तु एक सच्चे वीतरागी मुनिराज की चर्या हमें तीर्थकर प्रभु के दर्शन करा देती है। वे साधु - चरण मेरे हृदय में निवास करें।

स्पर्धा रोद्रध्यान का लक्षण है।

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

निज परमेश्वर को निज में खोज

हे प्रज्ञात्मन्! आगम को जानना - पहचानना सहज अवस्था है, किन्तु आगमानुसार वृत्ति करना कठिन है, परन्तु असंभव भी नहीं है। यदि मनोबद दृढ़ है, तो जैसे ही मानस मचला, चारित्र चलायमान हुआ, फिर नहीं याद रहता आगम सिद्धान्त। एक चारित्रहीन व्यक्ति की दशा ठीक गुड़ में चिपकी मक्खी जैसी होती है, जिसके पंख चिपके हैं, भिनभिना रही है, प्राण संकट में हैं, परन्तु गुड़ को छोड़ना नहीं चाहती। अन्त में प्राणों का वियोग भी हो जाता है। वही अवस्था रागी-मोही-भोगी जीव की है। भोग रूपी गुड़ में चिपककर, चारित्र रूपी पंखों को तोड़ रहा है। अन्तिम स्थिति यही होगी कि न तो छोड़ पाएगा और न ही भोग पाएगा। पुराण/ग्रन्थ इस बात को बना रहे हैं। ये अनेक उदाहरणों से युक्त हैं। जैसे, रावण की परिणति को देखो, सीता जी का हरण तो कर लिया काम की तीव्रता में, परन्तु महासती शीलवन्ती सीता जी के दृढ़ मनोबल एवं संकल्प-शक्ति के आगे रावण को सिर टेकना पड़ा। वह न महासती का शील भंग कर पाया, न ही वह अहं के पीछे राम को सीता वापिस दे पा रहा था। अन्त में एकमात्र भोग - भावना के प्रभाव से लक्ष्मण जी के तीव्र शास्त्रों के द्वारा मरण को प्राप्त हुआ, नरक की गोद में चला गया। हे योगिन! वह तो एक गृहस्था था, रागी था, विलासी था, परन्तु तू तो योगी है। वह तो अशुभ चेष्टा से नरकवासी हुआ, परन्तु तू तो योगी है। वह तो अशुभ चेष्टा से नरकवासी हुआ, परन्तु योगी कहीं कषायवश अशुभ चेष्टा को प्राप्त होता है, तो उसके लिए नरक में भी स्थान नहीं होगा। वह तो निगोद का स्वामी बनेगा। हे सिद्धशिला पर विराजने वाले भावी भगवान्! अपनी भावनाओं को भगवत् - स्वरूप में लीन रख। उसकी प्राप्ति हेतु ही साधुभेष स्वीकार किया जाता है। सज़्पूर्ण इच्छाओं, कामनाओं का निरोध कर, निज परमेश्वर की निज में खोज कर।

वात्सल्य के बिना क्षमा नहीं दी जा सकती।

क्षमा मांगने के लिए नम्रता और सरलता जरूरी है।

Visit us at http://www.vishuddhasagar.com
Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

जैन दर्शन संयमाचरण से जगतवन्द्य है, आडम्बरों से नहीं

हे प्रज्ञात्मन्! श्रमण संस्कृति विश्व गुरुत्व को प्राप्त संस्कृति है। यहां अनेकान्त स्याद्वाद की ध्वनि गुंजायमान होती है। अलौकिक संयमाचरण को देखकर सारी जनभेदनी आश्यर्च को प्राप्त होती है। अहां निर्ग्रन्थों की साधना! जब-जब मार्ग में विहार करते हैं, जन-मानस / जैनेतर-लोग कहते हैं- देखो, यह है सत्य साधना, तपश्चरण। ये ही तो भगवान हैं। चरणों में नतमस्तक होते हैं। अपने आपको धन्य मानते हैं। जन-जन में चर्चाएँ करते हैं- दर्शन अपनी विभूति के कारण जगत-वन्द्य नहीं है, अपितु निर्दोष संयम, चारित्र के माध्यम से जगतवन्द्य है। आडम्बरों से न कभी श्रमण-संस्कृति की रक्षा हुई है, न होगी। यह धारणा गलत है कि वर्तमान में चरणानुयोग में मृदुता लानी चाहिए। उनसे (शिथिलाचारियों से) इतना ही कहना है कि यदि आपकी सामर्थ्य नहीं है तो श्रृद्धा रखें, परन्तु आगम में विकार को स्थान न दें, यही आपकी श्रमण-संस्कृति के प्रति उदारता होगी। प्रत्येक श्रमण, श्रावक, विद्वान धर्म व संस्कृति की रक्षा तथा प्रभावना की बात करते हैं, परन्तु पीड़ा तब होती है और दु:ख के साथ लेखनी चलाना पड़ रही है, जब धर्म-रक्षक धर्म-प्रभावक भी धर्मनाशक की वृत्ति को प्राप्त हो रहे हों। यह जिनदेव का सिद्धांत नहीं है कि एक जीव की रक्षा के लिए दूसरे जीव का विघात करें। यहाँ तो प्राणी-मात्र की रक्षा की बात कही जाती है। उभय (दोनों) जीवों की रक्षा हो ऐसा कार्य करना चाहिए। स्थितिकरण व उपगूहन अंग का कैसा दुरुपयोग हो रहा है? स्वयं के लिए सज़्यक्तव के अंगों की चर्चाएँ होती हैं, परन्तु दूसरे के लिए भूल जाते हैं। ये कैसा सज़्यक्तव है? श्रमण-संस्कृति की कैसी रक्षा है जब परस्पर श्रमण ही श्रमण की आलोचना करे स्वयं की ज़्याति के लिए? यह पूर्णरुपेण अशुभाचरण है। सच्चा भावलिंगी श्रमण निम्न वृत्ति को धारण नहीं कर सकता। जो ऐसा करता है वह संस्कृति का नाशक है। हे यतीश्वर! निज भेष, जिनधर्म, श्रमण संस्कृति पर करुणा करो, भावों में निर्मलता लाओ, अपने लिंग का विचार करो।

यथार्थ ज्ञानीपना विरक्ति में निहित है।

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

मनुष्य पर्याय दुर्लभता से प्राप्त हुई है

हे प्रज्ञात्मन्! शुभ्र आकाश में प्रकाशमान् असंख्य तारों में ध्रुव तारा एक होता है। अनेक गजों में गजमुक्ता एक दो ही गजों में होती है। अनेक गायों में कामधेनु गाय दुर्लभ है। गोशीष-चन्दन वृक्षों में तथा पारसमणि मणियों में जैसे दुर्लभ हैं, उसी प्रकार अनन्त पर्यायों में मनुष्य-पर्याय दुर्लभ है। उसमें भी श्रेष्ठ कुल, श्रेष्ठ देश, धर्म, देव-शास्त्र-गुरु का मंगलमय सान्निध्य दुर्लभ से भी दुर्लभ है। भो प्रज्ञ! रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति, उन सब में भी विशुद्ध भावों का होना अति कठिन है। ऐसे दुर्लभ निर्मल भावों की प्राप्ति का उपाय एकमात्र दिगम्बर वीतराग जिनमुद्रा है। अहो! वे जीव बड़े भाग्यशाली हैं, जो अल्पवय में जिनदीक्षा धारण का आत्म-सुख की प्राप्ति में संलग्न हैं। उन्हीं की मनुष्य - पर्याय सार्थक है जो भोगों को बिना भोगे आत्मताव में लवलीन हैं। जिनके माध्यम से जिनवाणी बोल रही है कि भोगों के दास मत बनो, भोगों को अपना दास बना लो। कुमारावस्था में जिन्हें वैराग्य हो गया, वे यही शिक्षा दे रहे हैं। भो भव्य! कुमार-अवस्था में समाधि-मरण की साधना कर, कुमरण की नीं। नित स्तुति करता हूँ उन मरम बैरागी तपोधनों की जिन्होंने काम-पंक में पड़े बिना दुर्धर शील धर्म को कुमार-अवस्था में स्वीकार कर भोगियों को शिक्षा दी है कि हे भोग के कीड़ो! शान्ति, शील में आत्मानंद है, रमणियों के रमण में नहीं है। विषय - भोग तो खुजली रोग हैं। खुजाते समय सुख-सा लगता है, परन्तु परिणाम दुःखद ही है। साथ ही धिक्कार हो उन अज्ञ जीवों को, जो शिव-सुरख प्रदानी जिन-दीक्षा को धारण करके भी कामनाओं/वासनाओं की कर्दम में फंसे हैं, जिनरूप धारण करके भी जिनत्व से परे हैं। मोक्ष पुरुषार्थ से डरे, कामी बनकर, स्वपर कल्याण का घात कर जिन - शासन को कलंकित कर, इस क्षोणी वसुधा पर भार बनकर जी रहे हैं तथा लज्जा शीलता से परे होकर नमोऽस्तु शासन को धूमिल करा रहे हैं। गृह में गृहणी के साथ रहकर निर्दोष गृहस्थ धर्म का पालन कर।

विवेकी बासा दिन नहीं जीता। वह मुर्दे को कांधे पर नहीं ढोता।

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

अरहंत मुद्रा को मत लजाओ

हे प्रज्ञात्मन्! आत्मशक्ति - प्रदायक और अनन्त सुख-स्वरूप रत्नत्रय धर्म है। रत्नत्रय धर्म के बिना न कभी शिवत्व की प्राप्ति हुई, न होगी। परन्तु द्रव्य - भेष धारण करने मात्र का नाम रत्नत्रय धर्म नहीं है। अहां कैसा है रत्नत्रय धर्म जिसकी प्राप्ति के लिए सुरगण भी तरसते हैं, जो एक मात्र मनुष्य पर्याय में ही सज़्भव है, अन्य किसी भी पर्याय में संभव नहीं है। अव्रती या देशव्रती को स्वात्मानुभूति नहीं होती। अव्रत - दशा में, देशव्रती अवस्था में स्वात्मानुभूति का श्रृद्धान तो होता है, ज्ञान होता है, ज्ञानानुभूति श्रृद्धानुभूति होती है, परन्तु चारित्रनुभूति रूप अनुभव नहीं होता है। धन्य हो उस सज़्यग्दृष्टि जीव को जिसके हृदय में कूट-कूटकर जिन मुद्रा के प्रति श्रृद्धा-भक्ति भरी हुई है। वीतराग दशा की प्राप्ति मुनिलिंग की अवस्था किए बिना नहीं होती। अर्हंत मुद्रा को देखकर भक्ति से भर जाता है वह श्रावक। जो जिन-मुनि की श्रृद्धा से मुनि-भावना को प्राप्त हो जाता है, वह भय मोक्षमार्गी है। परन्तु जगत्पूज्य जिनमुद्रा को धारण करके भी जो आत्मसाधना से परे होकर यश: कीर्ति, पूजा, सज़्मान के पीछे दौड़ रहा है, भोग-भावना में जी रहा है, वह साधु होकर भी संसार मार्गी है, उनका कल्याण संभव नहीं है। भो प्रज्ञ! त्रिलोक वन्दनीय मुनिलिंग को अपमानित मत कर। यदि परिणामों में कालुष्य है, शरीर से पाप क्रिया करने की भावना रखता है व शरीर से कुचेष्टाएँ भी करता है तो, हे आत्मन्! जिन-भेष छोड़कर अन्य भेष को धारण कर तत् क्रियाएँ कर! यह सब अरहन्त-भेष में शोभा नहीं देता। अरहन्त मुद्रा को वन्दनीय ही रहने दो।

कषाय न करना ही आत्मरमण है, क्योंकि अपने स्वभाव का अतिक्रमण नहीं है।

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

मोहनीय कर्म सभी कर्मों का राजा है

हे प्रज्ञात्मन्! इन्द्रियजी, कषायजयी बनो। इंद्रिय-विषय और कषाय प्रबल शत्रु हैं। जैसे, शत्रुओं के भय से प्रतिपल अपनी रक्षा का उपाय खोजता है, दुर्ग, शस्त्रशाला, सेना, बल अंगरक्षक आदि की व्यवस्था करता है, उसी प्रकार निज विषय-कषाय रूपी शत्रुओं से आत्मराज की रक्षा की व्यवस्था कर। तेरे लिए वर्तमान में उभर अरि मात्र नहीं सता रहे, अपितु भूत में भी सताते रहे, ये भविष्य में भी सताएँगे। उसमें कोई शंका प्रतिशंका की आवश्यकता नहीं है। यदि तूने समूचे शत्रु-निरोध की व्यवस्था नहीं की तो, अहो आत्मन्! तू कितना शान्त बैठा रहा और ये बैरी तुझे नष्ट करते रहे। शत्रुओं की सेना से परास्त होते-होते आज ये स्थिति है कि तू अब अज़्यस्त हो गया है। उनके साथ सज़्यर्क करके, निज वैभव लुटाकर उनका मित्र बन गया है। रे मूढात्मन्! शत्रु भी क्या कभी विश्वास के योग्य होता है? उनसे मित्रता की जाती है क्या? विवेकी जीव समय पाकर, शत्रु का हनन करके, निष्कंटक बनकर स्वराज्य का उपभोग करता है। इन दोनों शत्रुओं का राजा है मोहनीय कर्म, और ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय - ये सात कर्म सात प्रकार की सेना हैं। राग और द्वेष इस दुष्ट मोहनीय राजा के गुप्त मंत्री हैं। भो चैतन्य सम्राट! आप तो अनन्त बलशाली हो। तेरा अन्तिम राज्य सिद्धालय है जिसमें ये दुर्धर शत्रु प्रवेश नहीं होने दे रहे। निज पौरुष का उपयोग कर, चारित्र दुर्ग का निर्माण कर, रत्नत्रय की खड्ग धारण कर, गुप्ति-समिति रूप दो कुशल मंत्रियों के साथ मंत्रणा कर, भेदविज्ञान रूपी असि का प्रयोग कर, मिथ्यात्व मोहनीय कर्मराज के मूर्धा का खण्डन कर संयम-शील ध्वज को लेकर मोक्ष-भवन पर लहरा दे। सज़्यक्त्व ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाधत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व इन आठ गुण-समूहरूप अष्टांग बल के साथ अखण्ड चैतन्य-नगरी का सुखमय उपभोग कर, शत्रु अपना सिर पुनः ऊंचा नहीं कर पाएँगे। जानने की इच्छा भी कषाय है।

Visit us at http://www.vishuddhasagar.com
Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

कौन किसको सुधार सका है आज तक

हे प्रज्ञात्मन्! समय को देखकर समयानुसार प्रवृत्ति करना। विद्यावान तो लकीर का फकीर हो सकता है, परन्तु प्रज्ञावान् आगम के अनुसार स्वप्रज्ञा का प्रयोग करके प्रवृत्ति करना है। साथ ही वर्तमान परिप्रेक्ष का ध्यान रखता है। लोक-विरुद्ध आगम - विरुद्ध कोई क्रिया सत्य श्रावक व साधक कभी भी नहीं करता। किसी भी आगमिक विषय को भी हमें अपने कल्याण हेतु समझना चाहिए, परन्तु विसंवाद करने की आवश्यकता नहीं। जहां से विसंवाद प्रारंभ हो वहीं शान्त मध्यस्थ हो जाना चाहिए। आचार्य भगवान् कुन्द-कुन्दाचार्य ने 'नियमसार' जी में बड़ी सुन्दर बात लिखी - संसार में नाना जीव हैं, नाना कर्म हैं, सभी के अपने-अपने क्षयोपशम हैं, सभी की स्वतंत्र प्रवृत्तियाँ हैं। यदि समझ सके, तो समझाना परन्तु किसी को बलात् प्रेरित नहीं करना। किसी के भाग्य को कोई अन्य नहीं बदल सकता। स्वयं ही निर्मल पुरुषार्थ से कर्म को संक्रमित कर सकते हैं। यदि तूने शास्त्र अध्ययन किया है, तो चिन्तवन को पवित्र कर। कौन किसको सुधार सका है आज तक? पर के सुधार में निमित्त अवश्य बन सकते हैं, यदि उपादान निर्मल हो तो। अमुक की निन्दा हो रही है, अमुक कर रहा है। अरे भाई! कर्म-सिद्धान्त को भूल गया क्या? जिस जीव ने पूर्व में व वर्तमान में भी जैसा तीव्र कर्म का बन्ध किया होगा वही विपाक/उदय में आता है। निर्दोष को दोष लगाने से, पीड़ित करने से और धर्म-धर्मात्माओं को सताने से तीव्र कर्मास्त्रव होता है। देखो! सीता ने पूर्व पर्याय में निर्ग्रन्थ तपोधन की अवहेलना/निन्दा की थी, उसका परिणाम देखो एक बलभद्र की पत्नि होने पर भी लोकापवाद को प्राप्त हुई थी। वर्तमान स्थिति को देखकर भले किसी को दोष दें, परन्तु कर्म-सिद्धांत तो स्वदोष को ही स्वीकारता है। आलोचक भी अशुभ में जी रहा है। वह अपने अमूल्य जीवन के क्षणों को जिनमार्ग की अप्रभावना में लगा रहा है। वर्तमान में भी तीव्र अशुभ नाम-कर्मादि के बन्ध को प्राप्त कर रहा है। हे आत्मन्! क्लेश नहीं कर। विपाक का विचार कर धर्म-ध्यान का अवलम्बन ले। प्रत्येक जीव के अशुभ कर्मो का क्षय हो, यही भावना कर।

जितनी सरलता, उतनी साधुता।

Visit us at http://www.vishuddhasagar.com
Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

परनिंदा से नीच गोत्र का बंध होता है

हे प्रज्ञात्मन्! आत्म-आलोचक बन। आत्मालोचना से निज का सुधार होता, आत्म-प्रक्षालन होता है, परालोचना से नहीं। ज्ञानी आत्मालोचना करता है, परनतु अज्ञानी परालोचना/निंदा में अपना अमूल्य समय नष्ट करता है। उसे निज की चिन्ता नहीं है। अहो! आश्चर्य है उन भोले प्राणियों को देखकर जिन्होंने तीर्थेश द्वारा सम्मान प्राप्त तथा तीर्थकरत्व को प्रकट कराने वाले महान हैं, जो स्वयं में ऐसे जगत-पूज्य महाव्रतों को स्वीकार कर भी जिन्होंने उन व्रतों की महानता को स्वीकार नहीं किया, पवित्र भेष को धारण कर परालोचना में व्यतीत कर रहे हैं तथा स्वपुद्गुल की पूजा कराकर स्वपर की वंचना कर रहे हैं। जिनमुद्रा को स्वीकार करके भी जो जिनत्व की प्राप्ति के लक्ष्य से शून्य हैं, धर्म के दस लक्ष्णों का जिनके अभाव है, सम्यक्त्व के आठ अंगों के प्राञ्जल अंकुरों के उत्पन्न कराने के लिए जिसका हृदय-क्षेत्र उर्वरा-शक्ति से रहित है, वह साधु के भेष में जिन-शासन-घातक एक कलंकी-रूप है। अरे भाई! मुनि-मुद्रा आत्महित के लिए स्वीकार की जाती है। यदि सामर्थ्य है, तो आत्महित के साथ परहित भी करें, परन्तु श्रेष्ठ तो आत्महित ही है, ऐसा जिनदेव का उपदेश है, लेकिन परहित की शैली परालोचना तो जिनदेव ने नहीं कही। स्थितिकरण व उपगूहन अंग को त्यागकर पर का सुधार नहीं किया जाता। भो अज्ञ! जिन-मुनि-मुद्रा को धारण कर क्यों निर्मल नमोस्तु शासन की हंसी करा रहे हो। राग द्वेष ही का जीवन जीना है, तो वस्त्र धारण कर अपने बैर को पूर्ण करो। कम-से-कम दिगम्बर मुद्रा की अवहेलना तो नहीं होगी। सत्य तो यही है, परनिन्दा करके सामान्य जीव को नीच गोत्र का आस्त्रव-बन्ध होता है। तो क्या सिद्धान्त छल-वेषधारियों के लिए नहीं होगा? अवश्य सभी के लिए होगा। अतः भो नरोत्तम को प्राप्त आत्मा! जरा विचार कर, क्यों पवित्र पर्याय को पर के सुधार में लगाकर निज का विघात कर रहा है। चेत, अब तो चेत। पुनः यह अवस्था मिलना कठिन है। आत्मालोचक बन कर देख, मैं कैसा हूं?

साधक वर्तमान में जीता है पर हम स्मृति में जीते हैं या आशा में

Visit us at http://www.vishuddhasagar.com
Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

नर पर्याय भोगों के कारण नहीं, संयम के कारण श्रेष्ठ

हे प्रज्ञात्मन्! सुर-दुर्लभ अज़्युदय सुख नहीं है। सौधर्म इन्द्र के पास जो वैभव है, वह चक्रवर्ती के पास भी नहीं होता। इन्द्रिय-सुख भी मनुष्यों के पास अल्प ही है। फिर भी नर श्रेष्ठ क्यों है? भो नरोत्तम! क्या कभी तूने इस विषय पर चिन्तन किया? नर पर्याय भोगों के कारण श्रेष्ठ नहीं है। इन्द्रिय-सुखों के उपभोग की सामग्री की प्राप्ति होती है इसलिए भी नहीं। जिनागम में नरोत्तम संज्ञा वैभव के कारण नहीं दी। सुर-दुर्लभ यदि कोई है तो वह है सकल-संयम, रत्नत्रय-धर्म का धारण। वही यथार्थ में नरोत्तम संज्ञा को प्राप्त करने का अधिकारी है। पावन सिद्ध-पर्याय की प्राप्ति का कारण भूत (अध्यात्म की भाषा में) कारण समयसार का कारण यह शरीर है, कारण समयसार तो रत्नत्रय धर्म ही है। कार्य समयसार सिद्ध पर्याय की प्राप्ति है। ऐसे कारण, कार्य समयसार की उपलब्धि में जो अज्ञ इस मानव देह का उपयोग नहीं करता है, वह नरोत्तम नहीं, वह तो नराधम है। भोगों की कर्मद में रत्नमयी पर्याय को पटक रहा है। अहो! आश्चर्य है कि आगम/पुराण-वेत्ता भी इन्द्रिय ग्राम के निवासी बने हैं। अरे, हिन्हें आत्म-ग्राम में निवास करना था, वे कैसे आत्माराम को छोड़ रहे हैं? अवश्य ही ऐसे जीवों की भवितव्यता अशुभ है। कलालब्धि को प्राप्त नहीं हुआ। परन्तु बिना पुरुषार्थ, काललब्धि भी घटित कैसे होगी? पुरुषार्थ करने पर ही कार्य समय पर होता है, अन्यथा नहीं। भो आत्मन्! उपसर्ग/परीषह के आने पर तो धैर्य धारण करना चाहिए, परन्तु असंयमी-जीवन जीने में एक क्षण भी धैर्य धारण करने की आवश्यकता नहीं है। जितनी शीघ्रता हो उतनी जल्दी संयम-मार्ग को स्वीकार करके नि:श्रेयस सुरख की प्राप्ति का सज़्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए।

विवेकी मनुष्य के लिए हर दिन एक नया जीवन होता हे, फिर अतीत का स्मरण व्यथित क्यों? क्या अपना जीवन नये ढंग से शुरु नहीं कर सकते?

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

आदर्शता जीवन श्रृंगार

हे प्रज्ञात्मन्! आदर्शता जीवन का श्रृंगार है। जीने को अल्प जीवन क्यों प्राप्त न हो, पर जीना आदर्शता के साथ। अनन्त आनन्ददायक जीवन उसी का बन पाता है जिसके जीवन में आदर्शता ध्रुव तारा चमकता है। कुछ लोग आदर्शों में स्वयं को देखते हैं, परनतु महान वह होता है, जिसममें अपने आपको सभी देखते हैं। दूसरे से तेरी उपमा दी जाए वह महानता नहीं, अपितु तेरी उपमा दूसरे को दी जाए। किसी नगर, क्षेत्र, मित्र व गुरु से तेरी पहचान हो यह आदर्शता नहीं, किन्तु आदर्शता तो उसमें है कि नगर, क्षेत्र, पिता, माता, गुरु की पहचान तेरे द्वारा हो। यह शब्द भी नहीं निकले कि अमुक का संबंधी है, अपितु शब्द यह निकले कि वह अमुक के सज़्बंधी हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निजी आदर्शता को प्रकट करने की आवश्यकता है, न कि किसी की नकल करने की। नकल से प्राप्त आदर्शता व व्यक्तित्व अधिक समय तक स्थिर नहीं रहता। वह कागज के सुमनोंकी सुगन्ध है। जब तक सेंट पड़ा है, तब तक सुगन्ध है। सेन्ट के उड़ने पर कोरे कागज हैं। उसी प्रकार जो व्यक्ति स्वयं की ज़्याति पूजा के उद्देश्य से दूसरे की शैली को स्वीकारते हैं, नकल करते हैं, वे अस्थाई प्रभावक हैं। उस समय, तात्कालिक तो लोगों को प्रभावित कर लेता है, परन्तु वह प्रभावना दो दिन में ही अप्रभावना का रूप धारण कर लेती है। चारित्र की दृढ़ता, संयम की सौरभता से, समता, सहनशीलता तथा ब्रह्मचर्य की पवित्र सुरभि से जो आत्म-प्रभावना के साथ धर्म-प्रभावना होती है वह अचल, अखण्ड, सुमेरूवत् होती है। फिर उसे कोई भी समाप्त करने की सामर्थ्य नहीं रखता, चाहे कितने भी भूचाल आते हों। अतः अपने जीवन को स्वादर्शता से भावित करके स्वपर कल्याण को प्रशस्त करना चाहिए।

जब सब जीव एक जैसे नजर आयें, तब समझिये कि ज्ञान प्राप्त हुआ।

संसार के सब जीव जब अपने लग जायें, तब वह सज़्यग्दृष्टि है। - जिनेन्द्र वर्णी

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

आत्मभोग का क्षण है नया वर्ष

हे प्रज्ञात्मन्! समय की खोज कर। आकाश-भवन के विनाश होने में विशेष काल नहीं लगता है। क्षण मात्र में विनाश को प्राप्त हो जाता है। जिनालय के शिखर पर लगे ध्वज के हिलने में जो समय लगता है वह तो दीर्घकाल है, परन्तु देह से देही के निकलने में जो समय लगता है उसकी खोज व्यक्ति आज तक नहीं कर पाये कि कब चर्म-भवन से हंसात्मा निकल गया। आ हा! आश्चर्य है कि प्रतिवर्ष नव वर्ष मनाता है, फिर भी वर्ष नया नहीं आता। नये वर्ष में कुछ नयापन भी तो आना चाहिए। परन्तु वह तो आज तक अनुभव हुआ नहीं। नये वर्ष में नये वस्त्र धारण किये, नयी वस्तुओं का भोग किया है क्या तूने? अने मूढ़! जो कुछ भी है सब तेरे लिए पुराना है। जितनी भी इन्द्रियजन्य भोग-सामग्री है, वह सब तेरे लिए पुरानी है, अनादिकाल से भोग रहा है। कोई भी भोगने - योग्य पुद्गल-प्रदत्त वस्तु ऐसी अवशेष नहीं हैं, जिसे तूने अपने भोग की सामग्री नहीं बनाई हो। फिर भी तृप्त नहीं हो सका। तू चाहे कि किसी भी इन्द्रिय की नूतन भोग-सामग्री को भोगकर मैं नया वर्ष मनाऊँगा, तो यह विचार तेरा पूर्ण अज्ञानता से युक्त ही होगा। कारण यह है कि अब तक ऐसी वस्तु धरा पर बची ही नहीं है जिसका उपयोग कर के तू नये वर्ष की खुशियाँ मना सके। जो कुछ भोगा जा रहा है, वह सब द्विष्ट हो चुका है। उसी का पुनः-पुनः उपभोग कर रहा है। न तुझे ग्लानि है, न लज्जा। अरे भाई! तनक तो विचार कर स्वयं के क्रिया-कलापों पर। दृष्ट श्रुत और अनुभूत विषयों में तूने सज़्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को आज तक पीठ दिखाई। अब चेत, रत्नत्रय धर्म की ओर मुखकर। यदि नया वर्ष यथार्थ रूप से मनाना है, तो जिसका वेदन आज तक नहीं किया वह परम-परिणामिक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक-स्वभावरूप, परमानन्द-रूप, आत्म-घट में उत्पन्न हुआ, परम-समरसी-भाव से युक्त अध्यात्म-सुख का वेदन कर जिसे आज तक प्राप्त नहीं किया। इन्द्रिय-भोगों का वियोग होने पर आत्मयोग का संयोग जिस क्षण होता है, वहीं क्षण नया दिन और नया वर्ष है।

चारित्र के माध्यम से क्षयोपशम की वृद्धि होती है। ज्ञान का विकास मात्र विशुद्धता है।

Visit us at http://www.vishuddhasagar.com
Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

स्वचिद्स्वरूप को नहीं भूलना

हे प्रज्ञात्मन्! स्वचिद्स्वरूप को नहीं भूल जाना। संसार के कितने भी आवश्यक कार्य हों, वे सब गौंड़ ही हैं। मुज़्य कार्य तो एकमात्र स्वात्मदेव को पहिचानना है, उनका ही ध्यान चिन्तन करना है। व्यवहार-नय से चिन्तवन ध्यान के हेतु पञ्चपरमेष्ठी हैं, और निश्चय-नय से एक मात्र अखण्ड ध्रुव, चैतन्य-धन, ज्ञानाचन्द-स्वभारी निज आत्म-द्रव्य है। शेष पदार्थ ज्ञेय हैं, हेय हैं, परन्तु श्रेष्ठ उपादेयभूत निज शुद्धात्म है। उसी की प्राप्ति का पुरुषार्थ कर। बाकी के सभी पर सज़्बन्ध दु:ख-रूप हैं तथा दु:ख के कारण है। जितने भी संयोग-वियोग, मिलना-बिछुड़ना, संकल्प-विकल्प के कारण हैं वे सब कर्म-बन्ध के प्रवल प्रत्यय हैं। जिन-जिन क्रिया-कलापों से संकल्प-विकल्प का जन्म होता, तत्-तत् क्रिया कर्मों से दूर रहना। छोटी-सी वय में कुछ बड़ा/श्रेष्ठ कार्य करके जाना। किसको शत्रु, किसको तू अपना मित्र कहता है? यथार्थ में न कोई शत्रु है, न मित्र। वर्ष ही क्या, कल्पकाल व्यतीत हो गये राग-द्वेष की आग में। इस हुताशन से निज भावों की रक्षा कर। ज्ञाता द्रष्टा बनकर रहना सीखो। सबको जानो, सबको देखा, परन्तु किसी को अपना निज-स्वरूप मत मानो। जितने पर्यायजन्य सज़्बंध हैं, वे सब स्वार्थभूत हैं। परमार्थ दृष्टि से देख, न कोई गुरु, न चेला। श्रृद्धा-श्रृद्धेय सज़्बन्ध है, लेकिन स्वभाव-रूप गुण-गुणी सज़्बंध नहीं है। स्वभाव-सज़्बन्ध तो शुद्ध ज्ञान-दर्शन है। उसी में लीन रहना। अन्य/पर से तू विलग हो जा। लौकिकजनों से उसी प्रकार पथ्य रख जिस प्रकार पाण्डु रोगी के लिए घृत तथा मिर्च का पथ्य रखना अनिवार्य होता है। यदि पथ्य का ध्यान नहीं रखा तो वर्तमान पर्याय से परायण करना होगा। उसी प्रकार विषय-कषाय के हेतु भूत लौकिक सज़्पर्क भी आत्मदेव से परायण/पृथक करा देता है। हे प्रज्ञ! नूतन दिवस पर नूतन चिन्तवन की धारा बनाओ।

अपने आपको मुनि समझने वाला भी मिथ्यादृष्टि है।

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

सज़्यक्त्वी करता है ज्ञान-चारित्र का सज़्मान

हे प्रज्ञात्मन्! निर्गन्ध पुष्प नहीं देखते, उसी प्रकार सज़्यक्तव गुण हीन को मुक्ति-वल्लभा नहीं निहारती, चाहे कितना पुरुषार्थ शेष कर लो। प्रथम पुरुषार्थ चारित्र-धारण नहीं होना चाहिए, अपितु सर्वप्रथम चारित्र के प्रति निर्मल आस्था होनी चाहिए। आस्थाविहीन चारित्रवान् न तो निर्दोष संयम का पालन कर पाते हैं, न किसी को चारित्र के प्रति आस्थावान् बना पाते हैं। जब तक स्वयं की संयम के प्रति रुचि नहीं होगी, तब तक क्या वह सज़्यक्त्व-चारित्र-ज्ञान की चर्चा करेगा? क्यों? तात्व-चर्चा या आत्मानुभव की बात उसी महापुरुष के श्री-मुख से शोभायमान होती है जो पूर्ण प्रतीति के साथ संयम चारित्र गुणों से मंडित हो। अहो! क्या अपूर्व आनन्द की दशा है सज़्यक्त्व गुण की प्राप्ति, जिसकी महिमा से देवेन्द्र-नरेन्द्रत्व की प्राप्ति नहीं, अपितु लोक्य-तिलक सिद्धत्व की प्राप्ति होती है। ज्ञान ही चारित्र को समीचीनता प्रदान करता है। सज़्पूर्ण तात्वों का आनन्द, जिनवाणी का सार दर्शन-गुण दर्शनविहीन, श्रमण व श्रावक दोनों ही संसार-मार्गी हैं। सज़्यक्त्व गुण से विभूषित चारित्रहीन भी मोक्षमार्गी है। यद्यपि चारित्र जगत्-पूज्य है, मोक्ष का साक्षात् कारण है, पर तभी है जब सज़्यक्त्व साथ में है। चारित्र-विहीन सज़्यग्दर्शन परंपरा-मोक्ष का कारण है। जब भी आत्मा परमोपलब्धि/सिद्धि को प्राप्त होगा, तब उसे सज़्यक्त्व, ज्ञान की चारित्र की प्राप्ति युगपत् करना ही पड़ेगी। सज़्यक्त्व-रहित चारित्रवान् अनंत संसार का भ्रमण कर सकता है, परन्तु चारित्र-शून्य सज़्यग्दृष्टि अर्ध पुद्गल संसार से ज्यादा भव में नहीं भटक सकता। यह सिद्धांत/नियम है। सज़्यक्त्व की महिमा गाने मात्र से भी कोई सज़्यग्दृष्टि नहीं हो जाता। चारित्रवान को देखकर प्रमुदित हो जाता है। संयमी जीव का देखकर प्रमुदित हो जाता है। संयमी जीव को देखकर जिसके हृदय में प्रमोद उत्पन्न न हो सके, वह सज़्यक्त्व-गुण से शून्य है। भव-बन्धन से छूटने का उपाय रत्नत्रय धर्म है, उसी में लीन हो जा।

जहाँ आत्मा की पकड़ नहीं, वहाँ भक्ति नहीं।

Visit us at http://www.vishuddhasagar.com
Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

परदोष वादे मौनम्

हे प्रज्ञात्मन्! संसार में भ्रमण करते हुए बहुकाल व्यतीत हो गया, परन्तु इस जीव को भय उत्पन्न नहीं हुआ। प्रतिवादिन, प्रतिपल नाना विसमताओं का वेदन कर रहा है। रो लेता है, परन्तु आँओं से आँसू पोंछकर पुनः वही कृत्य कर रहा। न लज्जा, न डर है कर्मबन्ध से। न किसी को किसी की लाज रही। प्रभु की भक्ति पूजन भी कर लेता है, जिनवाणी भी सुन लेता है, परन्तु निज के उत्थान की बात बिल्कुल नहीं कर पा रहा। विश्व सुधार के कार्य में लगा है। क्या कोई आज तक विश्व को पूर्ण-रूपेण सुधार पाया है? स्वसुधार नहीं कर पा रहा, फिर तू विश्व को क्या सुधार पाएगा? अरे मूढ़! तीर्थंकर भगवान ने किसी की आलोचना नहीं की, किसी की बुराइयों का प्रचार नहीं किया, किन्तु बुराइयों की बुराई की है। किसी व्यक्ति की निन्दा निज देशना में नहीं की, अपितु निन्दनीय कृत्यों की निन्दा की है। सत् पुरुषों को निन्दनीय कृत्यों से दूर रहने का उपदेश दिया है। धर्मात्माओं की आलोचना नहीं की, भूल-सुधार की बात की है, प्रायश्चित, प्रतिक्रमण, प्रत्याज़्यान, का वर्णन किया। छद्मस्थ जीव में दोष हो सकते हैं, उन दोरषों के शोधन का कार्य स्वयं के ऊपर है, पर के ऊपर नहीं। गुप्त से गुप्त पापों को प्रकट करने का एक अणुव्रती को निषेध है। वह अणुव्रती या महाव्रती कहलाने का पात्र नहीं है जो पर के दोष कहने में वाचाल है। लगता है कि समाधि-भावना की वह लाइन नहीं पढ़ी उस भोले वाणी ने कि 'पर दोष वादे च मौनम्' पर दोष कहने में मौन रहना ही श्रेयस्कर है। उसी में स्वपर हित निहित है। धर्म-रक्षा के नाम पर सज़्यक्त्व के अंगों का नाश कर देना तो स्वपर की श्रृद्धा को तिलांजलि देना है, जो आगम के पूर्ण विपरीत है। बिना धर्मात्माओं के धर्म का प्रचार-प्रसार सज़्भव नहीं है। धर्मात्माओं के दोषों के प्रकट करके कोई भी धर्म-रक्षा नहीं कर सकता। यदि रक्षक हैं आप, तो पास जाकर स्थितिकरण अंग का पालन करें, निज की विज्ञता का परिचय दें, परन्तु किसी भी संयमी के प्रति आस्था समाप्त न करें।

धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है।

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

समयसार की प्राप्ति का उपाय: तत्वदृष्टि

हे प्रज्ञात्मन् अखण्ड-पिण्य, चैतन्य-ज्ञान-धन आत्म-द्रव्य से भिन्न पर-देहादि जो द्रव्य हैं, वे सब आत्म स्वरूप नहीं हैं। पर-संयोग के प्रभाव से जीव नाना विकल्पों की कल्लोलों (तरंगों) में लगा हुआ है। जितने भी लोक के सज़्बंध हैं, वे सभी दु:ख के मूल हैं। शरीर के सज़्बंधों को इस जीव न अपना मान लिया है। उनके वियोग में विलखता है, संयोग मे हँसता है। यदि सत्यता को समझ लेता, तो न हँसता, न विलखता। अहो! मोह की लीला, जो अत्यन्त पृथक् सज़्बंधी है, उनके राग में यह जीव परमेष्ठी के अनुराग को छोड़ बैठता है। पंचपरमेष्ठियों के प्रति प्रकट वात्सल्य, भक्ति, अनुराग तो परंपरा से मुक्ति का हेतु है, परन्तु कुटुज़्बादि के प्रति किया गया राग नियम से बन्ध का कारण है। बन्धन से यदि भय है, तो देश, नगर, गृह कुटुज़्बादि के ममत्व का परित्याग प्रसन्नतापूर्वक कर दो, अन्यथा भव-चक्र समाप्त होने वाला नहीं है, जिसके पीछे तूने जिन-मुद्रा को स्वीकार किया है। गृहस्थावास्था में राग-द्वेष की समाप्ति सज़्भव नहीं है, इसलिए दिगज़्बर भेष के धारण किया है। यदि इस अवस्था को प्राप्त करके भी राजनीति/कूटनीति करते रहे और नेताओं अभिनेताओं से घिरे रहे तथा उनके बीच में समय व्यतीत करते रहे, तो ध्यान रखना, न तो कारण समयसार को प्राप्त होगा न ही कार्य समयसार को। मेरी समझ में अनगारों के लिए गृह, नगर, पुरजन, परिजनों से दूर रहना ही श्रेष्ठ है। कदाचित् नगर में जाना भी पड़े तो सामान्य नगरों-जैसी वृत्ति रखें, अन्यथा राग-द्वेष के कर्दम से बचना कठिन है। कितना ही विशेष साधक क्यों न हो, लेकिन वे भी नहीं बचते। ध्यान रखना, परिणामों के मोड़े मेढ़े के सींगों से भी ज्यादा टेड़े-मेड़े हैं। बल्कि यह कहना चाहिए कि बाँस की जड़ से भी अधिक घुमावदान हैं। अत: साधक वर्ग को वर्तमान में विशेष रूप से अपने में जाग्रत होने की आवश्यकता है, तभी श्रमण-संस्कृति के प्रति जीवों की आस्था को बनाकर रखा जा सकता हे। ये सब साधु-पुरुषों के ऊपर है। तात्व दृष्टि बनाकर चलो, यही समयसार की प्राप्ति का उपाय है।

जैन तपश्चर्या का अर्थ ही है वस्तुस्वरूप का विवेकपूर्वक अनुसंधान

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

Visit us at http://www.vishuddhasagar.com
Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

जिन-दर्शन से कर निज-दर्शन

हे प्रज्ञात्मन्! निज प्रभु के दर्शन के लिए जिनदर्शन अनिवार्य है। बिना जिनदर्शन के निज-दर्शन संभव नहीं हैं। एक चित्रकार जब चित्र बनाता है, इसके पूर्व चित्र के बारे में ज्ञान करता है अथवा प्रतिकृति पूर्व चित्र को निहारता है। बिना चित्रवान् के ज्ञान के चित्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसी प्रकार अरहन्त-स्वरूप की प्राप्ति, तत् स्वभाव का वेदन तभी संभव है, जब अरहंत के स्वरूप का ज्ञान होगा। साथ ही उनका तत्-रूप आकार का दर्शन किया होगा। तभी अरहन्त स्वभाव की परिकल्पना अपने अन्दर कर सकता है। जब तक भिन्न दो पदार्थो का ज्ञान नहीं होता, तब तक संशय भी नहीं होता, जैसे कि जिस व्यक्ति को स्थाणु और पुरुष दोनों का ज्ञान है, उसे ही दृष्टि-दोष से व अल्प प्रकाशादि निमित्त से स्थाणु से पुरुष का संशय होगा। जिसके एक को भी नहीं जाना, उसे क्या संशय होगा? उसी प्रकार यहाँ समझना है। संशय-ज्ञान के लिए जब भिन्न दो पदार्थों का ज्ञान होना आवश्यक है, फिर यथार्थ ज्ञान के लिए तो पदार्थों के स्वभाव का ज्ञान होना अनिवार्य ही है। बिना-अरहंत-स्वरूप के ज्ञान के अरहंत-स्वभाव को कैसे जान सकते हैं? स्वरूप-ज्ञान के लिए दो सुंदर आलंबन हैं। एक जिनवाणी/शास्त्र हैं। आगम का अध्ययन करके ज्ञान कर लेना। दूसरा तदाकार जिन प्रतिमा जी को देखकर, चित्र को देखकर। प्रतिमा व चित्र बिना-अक्षरों का ग्रन्थ होता है। ग्रन्थों के सहस्त्र पृष्ठों को पढ़कर जो ज्ञान होता है, व ज्ञान एक चित्र या प्रतिभा को देखकर हो जाता है। जैसे आकार की भाव-भंगिमा होती है, दर्शक के अन्दर वैसा ही चित्रण होता है। तत्-रूप आचरण बनने लगता है। इसलिए साधक वर्ग को ही देखना चाहिए, जिससे साधु-परिणामों की वृद्धि होती रहे। अश्लील चात्रिदि देखना व शब्द सुनना भी कुशील है। वीतराग छवि को देखकर वीतराग भावों का उद्भव होता है। आज प्रबल पुण्य का योग था जो कुण्डलगिरी में विराजे आदीश्वर भगवन्त के वीतराग विज़्ब के दर्शन, स्पर्शन हुए। अहो! धन्य है वह वीतराग दशा, जिनके निहारने से हृदय में वीतरागता का अनुभव हुआ। यही भावना है कि हम भी पूर्ण वीतरागता को प्राप्त होवें।

जैन तत्वज्ञान की आधारशिला है - व्यक्ति स्वातंत्र्य और स्वावलंबन

Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035

तीर्थ वंदना होती है निजतीर्थ की प्राप्ति के लिए

हे प्रज्ञात्मन्! तन में विराजे निजात्म-देव पर दृष्टिपात कर। बहुत गया तू तीर्थें, मंदिरों में। वहाँ भी तूने अहं भाव का पोषण ही देखा। तीर्थ-वन्दना निज-तीर्थ की प्राप्ति के लिए की जाती है। पूर्व में विशाल यतीसंघ परिणामों की विशुद्धि हेतु अतिशय क्षेत्र, सिद्ध क्षेत्रों की वन्दना हेतु जाया करते थे। तीर्थ-विकास के लिए धर्मात्मा-श्रावकों को उपदेश भी देते थे, परन्तु अपने नाम का पत्र लिखवाने हेतु किन्हीं पूर्वाचार्यों ने उपदेश नहीं दिया, न बैठकर अर्थ का संयोजन किया। आश्चर्य है! आत्मतीर्थ में जाने वाले तीर्थों को वृषभाचल का रूप दे रहे हैं। अमुक तीर्थ पर मेरा ही नाम रहेगा। क्या किसी के नाम सनातन/शाश्वत रहे हैं या रहेंगे? तीर्थ ही नहीं बचेंगे, तो नाम कहाँ बचने वाला है। हे आत्मन्! तीर्थ-वन्दना करना पुय वर्गएणाओं की प्राप्ति हेतु और कर्मक्ष्यार्थ, परन्तु अहं के लिए नहीं। क्या विसमता है पंचमकाल की! आँखों को देखने को मिल रहा है कि यदि किसी एक के निर्देशन में तीर्थोद्धार चल रहा हो व नीवन तीर्थ की स्थापना की गई हो, तो दूसरा वन्दन करना भी पसन्द नहीं कता। क्या विडज़्बना है! राग-द्वेष की हानि के स्थान पर गुणित-क्रम से वृद्धि देखी जा रही है। एक सामान्य श्रावक अपने दैनिक कार्यों से समय निकालकर धर्म-ध्यान कर पाता है, पर साधक वर्ग का दिनरात तो धर्म-ध्यान के लिए होता है। क्या पुण्योदय है सनत भगवन्तों का! परन्तु चिन्ता का विषय तब बनता है जब आत्मचिंतक निर्ग्रन्थ-भेष को प्राप्त करके भी स्वसमय को खो कर, अन्य निर्ग्रन्थों की आलोचना में लीन होकर निज की वंचना कर रे हों। मुक्ति-बल्लभा के कन्त संसार-वधु के कर को पकड़ रहे हैं। एक साधक के पास जो समय है वह उसका निर्मल उपयोग करे तो कतने ग्रन्थों का स्वाध्याय करके विद्वान साधु के रूप में आकर नमोऽस्तु शासन को जयवन्त कर सकता है। सीमित शास्त्र-स्वाध्याय के बाद अति ज्ञान मानकर बाह्य ज़्याति में पड़कर विशुद्धता का घात करना प्रारज़्भ कर लेना सबसे बड़ी अज्ञानता है।

हे आत्मन्! ध्यान और अध्ययन ही तेरा जीवन है। जिनवाणी के आनन्द का पान करके आत्मानन्द में मग्न हो जा।

शब्दों में धर्म नहीं, शब्दों में भावों की अनुभूति में धर्म है।

Visit us at http://www.vishuddhasagar.com
Copy and All rights reserved by www.vishuddhasagar.com
For more info please contact : akshayakumar_jain@yahoo.com or pkjainwater@yahoo.com
09892279205, 09324358035